वैदिक व्याख्यान माला - पंचम व्याख्यान

व्यक्तिवाद और समाजवाद

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम', किल्ला-पारडी, जि. सूरत

मूल्य छः आने

स्पर्धा और युद्ध

इस समय कलियुग चल रहा है। यह कलियुग अर्थात् कलहका युग है। नाना प्रकारके नये नये विवाद यहां उत्पन्न हो रहे हैं और वे विविध प्रकारके युद्धोंमें परिणत होते हैं। यदि वैदिक धर्मका समन्वयका सिद्धान्त इस समयमें लोगोंके समझमें आ जायगा, तो ये सब झगडे मिट जांयगे और लोग आनन्दप्राप्तिके मार्गपर सामूहिक रूपसे लग जांयगे।

इसलिये इस निबंधमें व्यक्तिवाद और समाजवादका वैदिक तत्त्वज्ञानपर अधिष्ठित समन्वय करनेका मार्ग बताया है। यह जनताका मार्गदर्शन करेगा ऐसी आशा है।

स्वाध्याय-मण्डल

किल्ला-पारडी (जि. सूरत) लेखक

१।६।५२

वैदिक व्याख्यान माला
पांचवां व्याख्यान

ॐ

व्यक्तिवाद और समाजवाद

अनेक वाद ।

इस समय जगत्में व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रीय समाजवाद, साम्यवाद ऐसे अनेक वाद उपस्थित हुए हैं, और उनके अनुयायियोंने अपने अपने गुट बनाकर दूसरोंका नाश करनेका प्रयत्न शुरू किया है, इसलिये बडे झगडे और बडी लडाइयां उत्पन्न हुई हैं और ये लडाइयां मानव जातीका संहार करेंगी, ऐसा प्रतीत हो रहा है ।

मम--सत्यं ।

आश्चर्यकी बात यह है कि युद्धके अनेक नामोंमें ' मम सत्यं ' यह एक नाम वैदिक कोश निघण्टुमें दिया है । ठीक यह नाम आजकलके इन युद्धोंके लिये प्रयुक्त किया जा सकता है । ' मम सत्यं ' का अर्थ ऐसा है कि ' जो मैं कहता हूं वही सत्य है, दूसरा जो कहता है वह सत्य नहीं है ' । मेरा पक्ष सत्यपक्ष है, दूसरेका पक्ष असत्यका पक्ष है, इसलिये उसका पूर्ण नाश करना चाहिये । ऐसा नाश करना चाहिये कि वह फिर न उठ सके । यह स्पर्धा इन पक्षोंमें आज चल रही है । प्रत्येक वादका पक्ष ' मेरा सत्य ' है ऐसा ही कहता है और दूसरेका नाश करनेके उपाय ढूंढता है । इस कारण जो नाशके उपाय पचास वर्षोंके पूर्व नहीं थे, वे भयंकर विनाशके साधन आज मनुष्योंके पास उपस्थित हुए हैं और वे बढाये भी जा रहे हैं । इस ' मम सत्यं ' का प्रयोग वेदमंत्रमें देखिये–

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र
संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके ।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्।
ना सुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥
(ऋ० १०।४२।४; अथर्व० २०।८९।४)

' हे इन्द्र ! लोग (मम सत्येषु) युद्धोंमें खडे होके अपने विजयके लिये तुझे सहायार्थ बुलाते हैं । वह शूर वीर इन्द्र उदार दाताको ही अपना मित्र करता है, परंतु जो यज्ञ करनेवाला नहीं होता, उससे मित्रता करनेकी इच्छा भी नहीं करता । '

इस मंत्रमें ' मम सत्यं ' पद बहुवचनमें है, ' युद्धोंमें ' ऐसा उसका अर्थ है । ' जनाः ममसत्येषु संतस्थानाः विह्वयन्ते ' लोग मेरा मत सत्य है ऐसा कहके अपनी अपनी पृथक् पृथक् संघटना करते हैं, अपने अपने अलग अलग गुट बनाते हैं और प्रत्येक पक्ष अपने पक्षके विजयके लिये अपनी सहायताके लिये इन्द्रको बुलाता है । इस मंत्र में ' ममसत्येषु ' पद बहुवचनमें है इसलिये ये युद्ध अनेक हैं यह स्पष्ट है । मेरा पक्ष सत्य है, मेरा मत सत्य है, ऐसा कहनेवाले अनेक पक्ष होंगे, तभी ' ममसत्येषु ' यह बहुवचनी प्रयोग सार्थ होगा । प्रत्येक युद्धके लिये दो पक्षोंका होना अत्यावश्यक है । दो पक्ष उपस्थित न होंगे, तो संघर्षही नहीं होगा । इसलिये प्रत्येक युद्धमें दो पक्ष हैं और ' ममसत्येषु ' यह बहुवचनी पद कमसे कम तीन युद्धोंका तो भाव बताता ही है । अर्थात् तीन युद्धोंके लिये छः पक्ष प्रतिपक्ष चाहिये और यह संख्या कमसे कम है ।

इस मंत्रसे स्पष्ट होता है कि ' ममसत्यं ' ' मेरा मत सत्य है ' ऐसा कहनेवाले पक्ष कमसे कम छः तो होने चाहिये और उनमें कमसे कम तीन युद्धके प्रसंग तो उत्पन्न होने चाहिये । ऐसे पक्ष प्रतिपक्ष उत्पन्न होनेपर और उनमें युद्ध छिडनेपर ये लडनेवाले अपना विजय चाहते ही होंगे, ऐसे समयमें लडनेवाले वीर अपने विजयके लिये इन्द्र को बुलाते हैं । बुलाया जानेपर यह शूरवीर इन्द्र किस

पक्षके पास जाता था यह हम इसी मंत्रमें अब देखेंगे—

१ यः हविष्मान् (तं) शूरः युजं कृणुते ।
२ असुन्वता सख्यं न वाष्ट ।

(१) जो यज्ञोंमें अन्न लाकर उसका यथेच्छ दान करता है, उसके साथ यह शूरवीर मित्रता करता है और उस मित्रकी सहायतार्थ वह सत्वर जाता है । (२) पर जो यज्ञ नहीं करता उसकी सहायता वह नहीं करता और युद्धमें उसकी सहायता करनेके लिये भी नहीं जाता ।

यज्ञ करनेवालेकी सहायता

यज्ञका अर्थ है (१) श्रेष्ठ पुरुषोंका सत्कार करना, (२) आपसकी संघटना करना और (३) दीनोंकी सहायता करना । ये त्रिविध कर्म यज्ञके हैं । इन त्रिविध कर्मोंको जो करता है वह मानो यज्ञ करता है । और जो इन त्रिविध कर्मोंको नहीं करता, वह यज्ञ नहीं करता । यज्ञ करनेवालेकी सहायता इन्द्र करता है । ' ममसत्यं ' नामक झगडेमें इन्द्र उसकी सहायता करता है कि, जो श्रेष्ठोंका सत्कार, आपसकी संघटना और दीनोंकी सहायता करता रहता है । इन सर्वजन हितकारी कर्मोंको करनेवालेकी ही सहायता की जाती है । इसलिये ऐसे श्रेष्ठ कर्म करते रहना मनुष्योंके लिये लाभदायी है । यहां युद्धमें किसकी सहायता प्रभु करता है और किसकी नहीं यह स्पष्ट हुआ ।

' मेरा मत सत्य है ' (मम सत्यं) यह अहंकार वेद से लेकर इस समय तक चला आया है । व्यक्तिवादी, समाजवादी, राष्ट्रीय समाजवादी और साम्यवादीके रूपसे वही ' मम सत्यं ' युद्ध शुरू है । आज ये लोग क्या कहते हैं देखिये—

व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद

व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी कहते हैं कि, व्यक्तियोंका समाज तथा राष्ट्र बनता है । प्रत्येक व्यक्ति उन्नत हुई तो सब समाज और सब राष्ट्र उन्नत होता है, इसलिये अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको पूर्ण स्वातंत्र्य मिलना चाहिये । परतंत्र व्यक्ति अपनी उन्नति किस तरह कर सकती है ? मनुष्यकी सब शक्तियोंका पूर्ण विकास होना चाहिये और ये सब विकसित शक्तियां मनुष्यके स्वाधीन रहनी चाहिये, इतना ही नहीं प्रत्युत ये सब विकसित शक्तियां मानवताका प्रकाश करनेमें लगनी चाहिये । मनुष्यको स्वतंत्रता न रही, तो यह शक्तिविकास नहीं हो सकता । इसलिये प्रत्येक मनुष्यको पूर्ण स्वातंत्र्य मिलना चाहिये ।

प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र रीतिसे जन्मती है, स्वतंत्र रीतिसे मरती है । जन्मते समय वह किसीसे पूछती नहीं और न मरनेके समय वह किसीसे पूछती है । स्वतंत्रता पूर्वक आती है और जाती है । प्रत्येकका कर्म उसके साथ रहता है । प्रत्येक जीव व्यक्तिशः तथा स्वभावतः स्वतंत्र है । प्रत्येक की निद्रा और जागृति स्वतंत्र होती है, प्रत्येकको भूख और प्यास स्वतंत्र रहती है, रोगी तथा निरोगी अवस्था प्रत्येक की स्वतंत्र है । एकके अन्न भक्षणसे दूसरेका पेट नहीं भर सकता । पुत्र मित्र भाई आदि नातेके संबंध औपचारिक हैं, ये संबंध सत्य मानना यही भ्रम है । जलमें नाना पात्र पडे हैं, उनमेंसे कुछ पात्र एक स्थान पर आगये और मिल गये, तो उनका संबंध एक नातेका नहीं माना जा सकता । अतः प्रत्येक जीव स्वतंत्र है । कौन है किसका मित्र और किसका भाई । यह नातेका संबंध मिथ्या भ्रम है । प्रत्येक व्यक्ति स्वरूपतः विभिन्न है । इसलिये उनकी विभिन्नताका स्वीकार करके ही उन्नतिका विचार करना चाहिये । इसलिये हम व्यक्तिकी पूर्ण स्वतन्त्रता मानते हैं और प्रत्येक व्यक्तिको स्वतंत्र रीतिसे अपनी उन्नति करनेके लिये पूर्ण अधिकार देते हैं ।

यह संमति व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादियोंकी है । यह व्यक्तिस्वातंत्र्यवादियोंका ' ममसत्यं ' है । अब समाजवादियों की संमति देखिये—

समाजवादियोंकी संमति

समाजवादियोंका ' ममसत्यं ' अर्थात् उनकी संमति देखिये । समाजवादी कहते हैं कि जिस समय व्यक्तिकी ज्ञान और कर्मशक्ति बढ जाती है, बुद्धि और प्रबंधशक्ति बढ जाती है, उस समय उसके पास धन आदिका संचय अधिक होता है । वह पूंजीपती बनकर बडे बडे कारखाने निर्माण करता है और अधिक धनका संचय करने लगता है । धनशक्ति ऐसी होती है कि जो लोभ बढाती है और लोभ बढ जानेसे स्वार्थ इतना बढ जाता है कि, उसकी कोई सीमा नहीं रहती । वह धनी व्यक्ति अपने धनके बलसे अनेक उपभोगके साधन अपने अधिकारमें कर लेता है और दूसरेको इन भोगोंसे वंचित रखता है । इसलिये

वर्गकलह निर्माण होता है। धनी और निर्धनके अन्दर द्वेष निर्माण होता है। इसलिये सब धन और कारखानोंका समाजीकरण करना आवश्यक होता है। समाजवाद ही इन दुःखोंको दूर कर सकता है, कोई दूसरा उपाय नहीं है। धनका अथवा किसी भी शक्तिका केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिये। विकेन्द्रीकरण से ही समाज सुखी हो सकता है। व्यक्तिको पूर्ण स्वतंत्र करनेसे ज्ञान, शासन, धन और कर्म-शक्ति आदि शक्तियोंका केन्द्रीकरण अनिवार्य ही है। अतः समाजवादकी दृष्टिसे ही समाजव्यवहार पद्धतिकी निर्मिति होनी चाहिये। व्यक्तिको पूर्ण स्वातंत्र्य देनेसे शक्तिका केन्द्रीकरण अनिवार्य है। वस्तुतः समाज ही मुख्य है। व्यक्ति समाजकी सेवाके लिये रहे, पर वह अधिक स्वतंत्र न हो।

व्यक्तिकी स्वतंत्रता माननेसे संघशक्ति नष्ट होती है। बिखरी हुई व्यक्तियां, अपने स्वातंत्र्यमें मस्त होती हैं और अपनी संघटना नहीं होने देती। संघशक्तिका बडा महत्त्व है। और यदि संघटनाका बल प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो व्यक्तिके स्वातंत्र्यपर नियमन रखना चाहिये। व्यक्ति कितनी भी समर्थ हुई, तो भी वह समाजके सांघिक बल की बराबरी नहीं कर सकती। इसलिये व्यक्तिको बहुत स्वातंत्र्य देना सर्वथा अयोग्य है।

समाजवादी पक्षका मत यह है कि समाजका हित साधन करनेके लिये व्यक्तिपर नियमन करना अत्यंत आवश्यक है। समाजहित मुख्य है। समाज सुखी हुआ तो व्यक्ति का सुख उसीमें हो जाता है। समाजवादसे सांघिक बल बढता है और समाजका सुख सामुदायिक आयोजनाओंसे बहुत बढाया जा सकता है। इसलिये समाजवादकी पद्धति सेही राज्यशासन होना चाहिये।

राष्ट्रीय समाजवादके तत्त्व भी ऐसे ही हैं। समाजके स्थानपर ये 'राष्ट्र' बोलते हैं।

साम्यवादका मन्तव्य

साम्यवाद का मुख्य तत्त्व सबकी समता व्यवहारमें लाना है। जैसा सेवक और स्वामी। ये दोनों मनुष्य हैं, दोनोंके लिये मानवी जीवनकी आवश्यकताएं समान रीतिसे चाहिये। सेवक चार पांच रोटियां खाकर उनका पाचन कर सकता है, परंतु स्वामी आधी रोटी भी खा नहीं सकता। परंतु स्वामीका वेतन पांच हजार रुपये मासिक होता है और सेवक के लिये पचास रु. भी मिलना कठिन होता है। यह विषमता ठीक नहीं है। इस विषमताके कारण मानवताका विकास नहीं हो रहा है। इसलिये जहां तक हो सके वहां तक सब मानवोंकी समता व्यवहारमें स्थापन करनी चाहिये।

मनुष्यको रहनेके लिये अच्छा स्थान चाहिये, भोजनके लिये पुष्टिकारक अन्न चाहिये, ओढने और पहननेके लिये ऋतुके अनुसार योग्य वस्त्र चाहिये, योग्य शिक्षण, ज्ञान प्राप्त करनेके साधन सबको मिलने चाहिये, धन न होनेके कारण किसीको ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका, ऐसा नहीं होना चाहिये, रोग होनेपर औषध मिलना चाहिये, योग्य समय में विश्राम मिलना चाहिये, वृद्ध अवस्थामें जो आवश्यकताएं होंगी, उनकी व्यवस्था होनी चाहिये। इस तरह सब को यह सब सहजहीसे मिले ऐसा प्रबंध राज्यशासन द्वारा होना चाहिये। कोई मनुष्य मानवी आवश्यकताओंसे वंचित नहीं रहना चाहिये। मानवकी सब आवश्यकताएं उसको अवश्य मिलनी चाहिये। यह साम्यवादियोंका मत है और इसको प्रत्यक्ष करनेका यत्न वे कर रहे हैं।

इसमें व्यक्तिके लिये पृथक् सत्ता नहीं है। राष्ट्रका एक अवयव यह व्यक्ति है। यह राष्ट्रके लिये जीवित रहती है। इस को राष्ट्र सेवाके कार्य अनिवार्य रूपसे करने ही चाहिये। कोई व्यक्ति पूर्णरूपसे स्वतंत्र नहीं है। राष्ट्रहित करनेके कार्य उत्तम रीतिसे निभानेके लिये व्यक्ति पूर्णतया परतन्त्र है।

इस तरह इन पक्षोंके ये मत हैं और इनके आग्रहके कारण इनके अन्दर बडे वैमनस्य फैल रहे हैं और जगत्में ये एक दूसरेका पूर्ण नाश करनेके लिये कटिबद्ध हुए दीखते हैं। यही इनका 'ममसत्यं' है। 'मेरा मत ही सत्य है, दूसरेका असत्य है' ऐसा प्रत्येक कहता है। इसलिये नाना प्रकारके झगडे उत्पन्न होते हैं। ये सब पक्ष वस्तुतः मानवजातिका कल्याण करनेकी इच्छा करते हैं, उनके कार्यक्रममें जनताके कल्याण करनेका कुछ न कुछ कार्यक्रम रहता भी है। परंतु इनमें अपने पक्षका दुराग्रह और दूसरे के पक्ष तिरस्कार रहता है। इसलिये ये दूसरेके मतका विचार नहीं करते और अपना ही आग्रह चलाते हैं। यही मानसिक वृत्ती 'मम सत्यं' इस वैदिक पदमें है और यही मनोवृत्ती सब झगडोंका मूल है। इसको देखनेसे वैदिक मंत्रकी सचायी ही दिखाई देती है। 'ममसत्यं'

*

इस पदका युद्धवाचक भाव इस तरह इस विश्वमें प्रत्यक्ष दीख सकता है।

यहां तक हमने विश्वमें प्रचलित नाना प्रकारकी मत प्रणालियोंके कार्यक्रम देखे। सबमें 'व्यक्तिवाद और समाजवाद' का संघर्ष ही है। इसको देखकर हम विचार करना चाहते हैं कि, इस संघर्षका निवारण वेदने किस रीति से किया है।

संघ व्यक्तिका आश्रय है

वेदमें 'जगत्यां जगत्' (वा० यजु० ४०।१) समष्टि के आधारसे व्यष्टि रहती है। इस कथनमें आधार देनेवाली समष्टि है और आश्रय लेकर रहनेवाली व्यक्ति है। अतः समष्टी श्रेष्ठ व व्यक्ति गौण है ऐसा कहा है। [इसका विवरण "वैदिक व्याख्यान माला। द्वितीय व्याख्यान" में 'संपत्तिका अधिकार' नामक विवेचनके प्रसंगमें विशेष रूपसे किया है।] व्यक्ति समाजके आधारके बिना रह नहीं सकती। व्यक्ति मरनेवाली है और समाज चिरंजीव रहता है। इसलिये समाजके हित साधन करनेके लिये सब धन हैं और व्यक्ति भी समाजकी सेवा करनेके लिये ही है। इस तरह समाजकी शाश्वती और व्यक्तिकी नश्वरताका वर्णन किया है और बताया है कि समाज ही व्यक्तिके लिये सेवा करनेके योग्य है।

इसी मंत्रभागका अधिक विवेचन करनेके उद्देश्य वेदने आगे कहा है—

व्यक्ति और संघ

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥ ९ ॥
अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसंभूत्याऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥
(वा० यजु० ४०, काण्व ४० ई० उ०)

इन मंत्रोंमें व्यक्ति और समाजके संबंध कैसे होने चाहिये इसका उत्तम वर्णन है। व्यक्ति और समाजके संबंध कैसे होनेसे बिगाड होता है और कैसे होनेसे सुधार होता है इसका विचार इन मंत्रोंमें किया गया है। इस कारण हमारे आजके विषयका स्पष्टीकरण करनेवाले ये मंत्र हैं। इनका अर्थ लिखनेके पूर्व इनमें आये पदोंका अर्थ प्रथम निश्चित करना चाहिये। इसका कारण यह है कि बहुत विद्वानोंने इनके अर्थ कुछ विलक्षण किये हैं। इस कारण प्रथम हम इन मंत्रोंके मुख्य पदोंके अर्थोंका निश्चय करेंगे। इनमें मुख्य विषयका वर्णन करनेवाले पद ये हैं।

असंभूति- (मंत्र ९)— संभूति
असंभव (,, १०)— संभव
विनाश (,, ११)— संभूति
जगत् (,, १)— जगती

इस तालिकासे यह स्पष्ट होता है कि 'संभूति, संभव और जगती' ये पद एक अर्थ बतानेवाले हैं। और 'असंभूति, असंभव, विनाश और जगत्' ये पद एक अर्थ बतानेवाले हैं।

'जगत्' एक वस्तुका नाम है और उसी वस्तुकी समष्टिका अथवा संघका नाम 'जगती' है। 'जगतां समाहारः जगती' अनेक जगतोंका संघ जगती कहलाता है। 'जगत्' उसको कहते हैं कि जो 'गच्छति' हलचल करता है, गति करता है। ऐसे गतिमानों के संघका नाम 'जगती' है। एक व्यक्ति और उनका संघ यह भाव 'जगत् और जगती' का है। 'जगत्यां जगत्' का अर्थ ऐसा है कि 'समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है।' यह मंत्र भाग इस अध्यायके पहिले मंत्रमें है। और इसी व्यक्ति और संघके तत्त्वका अधिक विवरण करनेके लिये ये मंत्र इसी अध्यायमें आगे आगये हैं। अब देखना है कि इस तत्त्वका अधिक स्पष्टीकरण ये मंत्र किस तरह करते हैं।

संघ बनाकर रहना

'संभूति' का अर्थ ऐसा होता है! (सं—) मिलकर एक होकर, संघ बनाकर (भूति) रहना, होना, बढना। मिलकर रहना, एक होकर रहना, संघ बनाकर रहना, समाज बनाकर बढना। यह संभूतिका मूल अर्थ है। यह अर्थ पूर्वोक्त 'जगती' के साथ मिलता जुलता है। जो अर्थ 'संभूति' का है वही अर्थ 'संभव' का है क्योंकि दोनोंमें एक ही धातु और एक ही उपसर्ग है। अतःधात्वर्थ एक ही है।

'संभव' शब्दका अर्थ 'उत्पत्ति, जन्म' ऐसा प्रसिद्ध है। 'कुमारसंभव' का अर्थ कुमारका जन्म है। यहां भी जन्मका अर्थ 'पंचतत्व, पंच कर्मेंद्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय,

अन्तःकरणचतुष्टय, आत्मा ये प्रत्येक बिखरे थे, वे एक होकर इस कुमारके रूपसे जन्मे हैं। यहां भी बिखरे तत्त्वोंको संघटना ही है जहां जन्म होता है, जहां नवजीवन प्रकाशित होता है, वहां ऐसी' अनेक बिखरी शक्तियोंकी संघटना ही प्रथम होती है पश्चात् उस संघके कारण नवजीवन प्रकट होता है। संभूतिमें प्रथम शक्तियोंका संघटन और पश्चात् नवजीवनका संचार है। विश्वका संभव (जन्म उत्पत्ति) होनेमें अथवा बालक का संभव (जन्म) होनेमें यही तत्व है। प्रथम बिखरी शक्तियोंकी संघटना और पश्चात् नवजीवन प्राप्त होकर प्रकट होना है।

मानव संघ में भी यही बात है, प्रथम (सं) एक होकर (भू) रहना और पश्चात् नवजीवन के स्फुरणसे प्रकाशित होना।

'संभूय समुत्थान' का अर्थ संघ करके उठना, अथवा संघसे शत्रुपर आक्रमण करना। इसलिये ये पद (१) सैनिकोंके सांघिक आक्रमण के लिये तथा (२) व्यापारियोंके सांघिक व्यवहारके लिये अथवा (३) कर्मचारियोंके संघोंके लिये प्रयुक्त होते रहे हैं। स्मृति शास्त्रोंमें इस अर्थमें ये पद प्रयुक्त हुए हैं इसका पदशः अर्थ (सं-भूय) एक होकर, मिलकर संघ बनाकर, (समुत्थान) उठना,कार्य करना ऐसा है। तात्पर्य ' संभूति तथा संभव ' का अर्थ संघबना कर रहना है। जो अर्थ ' जगती ' पदमें हमने देखा है वही अर्थ ' संभूति ' में है। ' संभव ' का भी वही अर्थ है।'अ-संभूति और असंभव'का अर्थ जो संभूति और संभव नहीं वह असंभूति और असंभव है। संघ बनाकर न रहना, अर्थात् व्यक्तिशः रहना व्यक्तिका पृथक् पृथक् रहना है।

अब एक पद रहता है वह है'विनाश'। यह पद 'अ— सं- भूति ' के अर्थमें यहां प्रयुक्त हुआ है। ' असंभूति ' का अर्थ ' व्यक्तिकी पृथक् पृथक् स्थिति ' है, यह असंघटनाकी अवस्था है, इसीका नाम ' विनाश ' है। क्योंकि व्यक्ति विनाशको प्राप्त होती है और संघ अजरामर रह सकता है। हिंदु व्यक्ति मरती है परंतु हिंदु समाज लाखों वर्षोंसे जीवित है। असंघटनाके जीवन का नाम ' विनाश ' देकर यहां बडा ही बोधप्रद सिद्धान्त वेदमंत्रने बताया है, कि मानवों का अमरत्व संघभावसे है और व्यक्ति बिखरी रहने लगी, तो उस व्यक्तिका नाश ही होना है। इतने विवरण के पश्चात् अब वही तालिका देखिये कैसी परिपूर्ण अर्थवाली बनी है।

असंभूति	संभूति
असंभव	संभव
विनाश	(अमरत्व)
जगत्	जगती
व्यक्ति	समष्टि, संघ

इस तालिकासे यह स्पष्ट हुआ कि ' असंभूति ' का अर्थ ' व्यक्ति, असंघटित व्यक्ति ' और ' संभूति ' का अर्थ ' संघ, संघटित समाज ' है। इन पदोंके अर्थोंके विषय में इतना स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता इसलिये यहां पडी कि कई विद्वानोंने इन पदोंके अर्थ विलक्षण किये हैं। वे अर्थ यहां नहीं हैं, यह प्रथम विदित होना चाहिये।

उदाहरणार्थ श्रीमान् परमपूजनीय शंकराचार्यजीने ' संभूति-असंभूति ' का पहिले मंत्रमें कुछ अर्थ किया, पर वह तीसरे मंत्रमें अनुकूल न हुआ, इसलिये उन्होंने लिखा कि **'अत्र अकारलोपो द्रष्टव्यः'** अर्थात् यहां ' संभूति' के स्थान पर ' असंभूति ' और ' असंभूति ' के स्थान पर ' संभूति ' लेकर अर्थ करना चाहिये। दूसरे कई टीकाकारों ने इसका खंडन भी किया है। ये दोनों हमारे लिये सदा वंदनीय ही हैं, पर इस तरह मंत्रका अर्थ ठीक तरह नहीं हो सकता। वस्तुतः इन पदोंका अर्थ करनेके लिये इसी सूक्तके अन्तर्गत प्रमाण ही लेने चाहिये। वे हमने लिये हैं। प्रथम मंत्रमें ' जगत्यां जगत् ' ये दो पद हैं। इन दो पदोंसे जगत् की व्यवस्था बताई है। जगत् कैसा है 'जगतीके अधिकरण में रहनेवाला जगत् है '। जगतीके आधार पर रहनेवाला जगत् है। जगत् एक व्यक्ति है और अनेक जगतों की समष्टि जगती है। अर्थात् समष्टिके आधारसे व्यष्टि रहती है। यह सिद्धान्त प्रथम मंत्रमें स्थिर किया, और पश्चात् उसी सिद्धान्त का अधिक स्पष्टीकरण करने के लिये ये तीन मंत्र दिये हैं।

यह अध्यायके अन्दरका ही प्रमाण है और इसकी ओर ध्यानपूर्वक देखनेसे ' व्यक्ति और समष्टि ' का विचार यहां है यह स्पष्ट हो जाता है। अतः यह अर्थ लेकर ही अर्थ करनेसे मंत्रोंका सत्य अर्थ प्रकट हो जाता है और पश्चात् संदेह नहीं रह सकता। इसलिये इतने स्पष्टीकरणकी यहां आवश्यकता हुई।

अब इन अर्थोंको लेकर पूर्वोक्त तीनों मंत्रोंका अर्थ देखिये। ये अर्थ देखनेके पूर्व इस समय तक किये विवरणके अनुसार निम्नलिखित पदोंके निम्न लिखित अर्थ हमने यहां लिये हैं-

१ संभूति, संभवन = (सं) एक होकर (भूति, भवन) रहना, होना, बढनेका कार्य करना, संघीय जीवन व्यतीत करना। समाजभावसे रहना। समाजवाद।

२ असंभूति, असंभव-एक होकर न रहना, संघभावसे नहीं रहना। अकेले अकेले पृथक् पृथक् रहना। व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद मानना। इसीका नाम 'विनाश' है क्योंकि व्यक्ति मरती है। 'असंभूति तथा विनाश' यहां एक ही भाव बतानेवाले दो पद हैं।

ये अर्थ स्वीकार करके अब पूर्वोक्त मंत्रोंका अर्थ नीचे देते हैं—

१ (ये असंभूतिं उपासते) जो व्यक्ति स्वातं - त्र्यवाद का अवलंबन करते हैं वे अधःपतन को प्राप्त होते हैं। (८)

२ परंतु जो समाजवादमें रमते हैं वे उससे भी अधिक नीचे गिरते हैं। (९)

३ समाजवाद का एक विलक्षण फल है और व्यक्ति स्वातंत्र्य का भी एक विलक्षण फल है। ऐसा हमने ज्ञानीयोंसे सुना है। जो इस विषयकी चर्चा करनेमें प्रवीण हैं। (१०)

४ समाजवाद और व्यक्तिवाद ये दोनों साथ साथ रहे तो लाभदायक होते हैं। व्यक्तिवादके अनुष्ठानसे व्यक्तिके कष्ट दूर किये जाते हैं और समाजभावसे अमरत्व की प्राप्ति होती है। (११)

यहां जो अनुवाद किया है। वह आजकी परिभाषा में भावानुवाद है। शब्दशः अनुवाद देखना चाहेंगे वे हमारे ईश उपनिषद् में देखें।

असंभूतिके उपासक

कई लोग असंभूतिके पूजारी होते हैं। और कई संभूतिके उपासक होते हैं अर्थात् कई व्यक्तिवादी होते हैं और कई समाजवादी होते हैं। 'अ-सं-भूति का अर्थ न-मिलकर-रहनेवाले' अर्थात् समाज संगठन की पर्वा न करते हुए व्यक्ति पूर्णरूपसे स्वतंत्र है ऐसा माननेवाले (अन्धंतमः प्रविशन्ति) अन्धकार में जाते हैं, अज्ञानमें रहते हैं और बडा दुःख भोगते हैं। यह कैसा होता है देखिये-

व्यक्तिवादी लोग व्यक्तिका सुधार करते रहते हैं और समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति सुधर गयी तो उनका बना समाज सुधर जाता है। ऐसा विचार करके ये लोग व्यक्ति को पूर्णरूपसे स्वतंत्र मानकर व्यक्तिकी पवित्रता, सुधार और उन्नतिके लिये जो चाहिये सो करते हैं। व्यायाम, स्नान, संध्या, उपासना, पूजा, पाठ अध्ययन, भोजन, रहन सहन जो भी व्यक्ति की सुस्थितिके लिये आवश्यक है वह सब ये करते हैं। व्यक्ति स्वतंत्र रूपसे अकेली जन्मती है और अकेली ही मर जाती है। न यह जन्मते समय दूसरेको साथ लाती है और न यह मरनेके समय दूसरेको साथ ले जाती है। प्रत्येक व्यक्तिके पीछे उसका कर्म लगा रहता है, वही मरणोत्तर उसके साथ जाता है। इसलिये कोई किसीका दूसरेसे संबंधी नहीं, इसलिये प्रत्येकको अपने उद्धारके लिये यत्न करना चाहिये, दूसरे झंझटोंमें पडनेकी जरूरत नहीं। ऐसा ये कहते हैं और व्यक्तिके लिये जो करना आवश्यक होता है वह ये करते रहते हैं। इसलिये संघशक्तिसे ये वंचित रहते हैं। मुझे दूसरेकी कुछ भी पडी नहीं है। दूसरा अपनी व्यवस्था देखे, मैं अपनी देखूंगा।

कर्मानुगो गच्छति जीव एकः।

अपने कर्मोंके अनुसार मनुष्यकी उच्च अथवा नीच गति होती रहती है। इसलिये मैं अपने हितके लिये यत्न करूंगा, मुझे दूसरेकी व्यवस्था देखनेकी जरूरत नहीं है। ऐसा इनका मत है। पूर्ण व्यक्तिवादका यह स्वरूप है।

दूसरेकी घृणा

पूर्ण व्यक्तिवाद जब बढ जाता है, तब वह व्यक्तिकी पवित्रता करनेमें दत्तचित्त होता है। इसका परिणाम दूसरे की घृणा इसके मनमें उत्पन्न हो जाती है। अपने शरीरकी दुर्गन्धी आनेके कारण वह अपने शरीरकी ही घृणा करने लगता है, फिर दूसरेकी वह घृणा करेगा इसमें आश्चर्य ही क्या है?

'परैः असंसर्गः।'

शौचात् स्वांगजुगुप्सा। योगदर्शन

'पवित्रता करते करते अपने शरीरके अंगोंकी घृणा इसको उत्पन्न होती है। इसका परिणाम दूसरोंके साथ इस का संसर्ग ही कम हो जाता है। अपने नाक कानसे मल बाहर आते हैं, पसीना आता है, उसकी बदबू आती है,

अन्य इंद्रियोंसे अन्य मल बाहर आते हैं इसलिये वह अपने शरीरकी दुर्गन्धीको देखता है और अपने तथा दूसरोंके शरीरोंसे घृणा करने लगता है। व्यक्तिवादी जीवनका यह घोर परिणाम है।

भारतवर्षमें हिंदु जातोंमें यही हुआ है। यहां प्रत्येक व्यक्ति पृथक् पृथक् हुई है। व्यक्तिवादकी यहां परमावधी हुई है। वैदिक धर्मसे लेकर उपनिषद् तथा गीता तक समष्टि या संभूति का जीवन था। इसलिये वहां यज्ञ याग आदि सामुदायिक प्रशस्त कर्म होते थे, जन संपर्क अधिकाधिक होता था। न इस समय 'स्वांगजुगुप्सा' थी और नाही 'परैः असंसर्गः' (दूसरोंसे संपर्क न रखने का भाव) था। गीता कहती है कि व्यक्तिवादी मनुष्य 'विविक्तदेशसेवित्वं अरतिर्जन संसदि(गी. १३।१०) 'एकान्तमें रहना और जन सभामें न जाना' यह व्यक्तिवादकी अन्तिम अवस्थामें रहता है। व्यक्ति अपनी पवित्रता करती है, शरीर स्वच्छ करने लगती है। उस समय उसको विदित हो जाता है, कि अपने शरीरसे प्रत्येक छिद्र से मल बाहर आ रहे हैं। कोई ऐसा छिद्र नहीं कि जिससे मल बाहर नहीं आता। यह देखकर उसको प्रतीत होता है कि यह शरीर तो मलका गढा है। ऐसा प्रतीत हुआ तो वह अपने शरीरकी घृणा करने लगता है। जो अपने शरीरकी घृणा करेगा व दूसरोंसे संपर्क किस तरह बढाना चाहेगा?

दूसरेके तथा अपने शरीरकी भी जिसको घृणा होती है, अकेला वहही घूमेगा, वह दूसरेके साथ बैठेगा भी नहीं। उसको दूसरोंके शरीरोंसे दुर्गन्ध आने लगेगी। ऐसी अवस्थामें वह किसी स्त्रीसे विवाह भी कैसा करेगा? इसलिये ये व्यक्तिवादी ब्रह्मचर्य पालन करनेकी ओर झुकते हैं। तरुणपनमें ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्यके पश्चात् संन्यास ही ये लेते हैं और स्त्रीसंबंध करना बहुत बुरा मानते हैं। व्यक्तिवादी अपने शरीरकी शुद्धता करते करते, इस भयानक अवस्था तक पहुंचते हैं। वैदिक धर्ममें यह नितान्त व्यक्तिवाद है ही नहीं। वहां ब्रह्मचर्यके बाद गृहस्थाश्रम है, उसके बाद वानप्रस्थ है। ये सब आश्रम जनसंपर्कके ही हैं। इनमें संघटना करनी है। जनसमदकी निंदा यहां नहीं है। यहां न अपने शरीरसे घृणा है और नाही दूसरोंके शरीरकी निंदा है। यहां शरीर तो देवताओंका मंदिर है, सब ऋषियोंका आश्रम यह शरीर है। इसलिये वैदिक धर्ममें स्वांगजुगुप्सा किस तरह हो सकती है?

व्यक्ति स्वातंत्र्यवादीयोंकी यह घोर कुकल्पना है जो मानव समाजका घात करनेवाली है। वैसा घात इस कल्पनाने हिंदुसमाजका किया है। कहावत ही है कि यहां 'दस मनुष्य हुए तो ग्यारह चूल्हे होंगे।' यह व्यक्तिवादकी पराकाष्ठा है। संघटनाका पूर्ण अभाव यहां इसी व्यक्तिवादके कारण है।

अन्धंतमः प्रविशन्ति ये असंभूतिं उपासते।
(यजु- ४०।९)

'व्यक्तिवादके पूजक अन्धकारमें जाते हैं' यह जो कहा है वह इस व्यक्तिवादके परिणामको देखकर ही कहा है। जो व्यक्तिवादी होते हैं वे घमंडी भी होते हैं। घमंड इनमें इसलिये होती है कि मैं अधिक तपस्वी, अधिक शुद्ध, अधिक सात्विक हूं। इस तरह ये मैं अधिक शुद्ध और दूसरा अधिक अपवित्र है, ऐसा मानकर वैसा व्यवहार करने लगते हैं। इस कारण विद्वेष बढता है। जो अपने आपको अधिक उच्च समझता है उसीका द्वेष अन्य लोग करने लगते हैं।

विभेदोंकी वृद्धि और सामूहिक निर्बलता

जहां व्यक्तिवाद बढता है वहां दो आदमीयोंका समझोता होना कठिन हो जाता है। इससे असंघटना होती है और संघबलका अभाव होनेसे वह समाज अत्यंत निर्बल हो जाता है। कोई आजाय और उसको दबा दे, यह अवस्था आ जाती है। आज हिंदुसमाज व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी होनेके कारण निर्बल बना है। वास्तवमें सब हिंदु एक धर्म के बंधनसे बंधे हैं, परंतु देखा जाय तो वेशभूषा, खान पान, भाषा, रहन सहन इनमें इतनी पृथकता है कि इस समाजको एक कहना असंभव प्रतीत होता है। पगडियां देखिये, प्रान्त प्रान्तकी पृथक् तो हैं, पर प्रांतमें भी जाती उपजातीकी भी पृथक् हैं। इसी तरह अन्य वेशभूषाके विषयमें जान सकते हैं। एक देशमें रहनेवाले और एक धर्मके मनुष्योंमें रहन सहनमें इतनी विभिन्नता किसी दूसरे देशमें दिखाई नहीं देती। इसीलिये पंजाबके ब्राह्मणसे मद्रासके ब्राह्मणोंसे विवाह नहीं होता। क्योंकि इनमें समानता कुछ भी नहीं, परंतु विषमता ही बहुत है। यह अति स्वातंत्र्य प्रियताका दुष्परिणाम है। अन्य कारण भी हैं। पर व्यक्तिनिष्ठाकी अधिकता यहांके समान किसी दूसरे

देशमें नहीं है।

इसीलिये कहा है जो व्यक्तिनिष्ठ होते हैं वे अन्धकारमें जाते हैं। यह अन्धकार असंघटनासे उत्पन्न होनेवाला है। इसका परिणाम सामूहिक निर्बलता है। ये असंघटित होते हुए बड़ा दुःख प्राप्त करते हैं क्योंकि अन्धकारसे दुःख होना स्वाभाविक है। इनकी उन्नति नहीं हो सकती। ये अधः-पतित होकर गिरते ही जांयगे।

संघटनाके उपासक

इसके आगे कहा है कि " ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः। " जो संभूतिकी-संघटनाकी ही उपासना करते हैं वे उससे भी अधिक घने अन्धेरेमें जाते हैं। जो संघशक्तिकी उपासना करते हैं वे अधिक दुःखमें गिरते हैं। केवल व्यक्तिभावकी उपासना करनेवाले जितने गिरते हैं, उससे अधिक संघभावमें रमनेवाले गिरते हैं। यह प्रथम विचित्रसा प्रतीत होता है, पर विचार करनेपर पता लगेगा कि इसमें सत्य है।

देखिये जो संघटनावादी, समाजवादी, संघवादी होंगे, वे संघटना शक्ति बढानेके लिये व्यक्तिका स्वातंत्र्य नष्ट कर देंगे। क्योंकि किसी व्यक्तिको यदि स्वातंत्र्य मिला तो वह व्यक्ति पृथक् रहेगी, और उस प्रमाणमें संघटना शिथिल होगी। इसलिये ये समाजवादी व्यक्तिकी स्वतंत्रता विनिष्ट करते हैं और अपने समाजकी संघटनाकी शक्ति बढाते हैं। इस कारण इस समाजवादियोंके समाजकी व्यक्ति अत्यंत दब जाती अतः विकसित नहीं होती।

मानवताकी हानि

जिस समाजकी प्रत्येक व्यक्ति इस तरह दब जाती है, वह समाज भी दबी हुई गुलामी वृत्तिवाले लोगोंका समाज बन जाता है। यद्यपि इस समाजमें सांघिक बल बढा हुआ दीखता है तथापि वह समाज दबी हुई व्यक्तियोंका होनेके कारण मानवताकी दृष्टीसे अवनत ही होता है। सब लोग मानसिक गुलामीसे दबे हुए और ऐसे दबे हुओंका समाज, यद्यपि सांघिक शक्तिसे युक्त हुआ, तो भी वह गुण्डोंका या समाज होगा और मानवताके उच्चस्तर पर उसका कुछ भी मूल्य नहीं होगा। यह कितना अधःपात है ? इसलिये वेद कहता है कि—

अन्धंतमः प्राविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥९॥
(वा० यजु० ४०)

' जो व्यक्तिस्वातंत्र्यके पुजारी हैं वे अवनत होते हैं और जो संघटनाके कार्यमें रमते हैं वे भी उससे अधिकदुःखमें गिरते हैं। ' अर्थात् केवल व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद जैसा बुरा है, वैसा अथवा उससे भी अधिक समाजसंघटनावाद भी बुरा है। इन दोनोंकी उपासना पृथग्भावसे करनेवाले गिरते ही जाते हैं। यहांके वाक्य मनन करने योग्य हैं

१ असंभूतिं उपासते— व्यक्तिभावके उपासक।
२ संभूत्यां रताः— संघजीवनमें रमनेवाले।

यहां भाव यह है कि (१) समाज संघटनाकी ओर दुर्लक्ष्य करके जो व्यक्तिको पूर्ण स्वातंत्र्य देते हैं वे गिरते हैं, वैसे ही (२) जो समाज संघटित करनेमें ही रमते हैं, परंतु व्यक्ति विकासकी ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते वे भी उससे अधिक गिरते हैं। एक ही मन्तव्यमें दत्तचित्त रहना और दूसरे मन्तव्यके विचारोंकी ओर नहीं जाना, यह अवस्था दोष बढानेवाली है। यह इस वर्णनका तात्पर्य है। अपनी पद्धतिका मनुष्य स्वीकार और प्रचार भी करे, परंतु दूसरी पद्धतिमें यदि कोई गुण रहं तो उनका भी मनुष्य विचार करे यह अत्यंत आवश्यक है। इसलिये कहा है कि दूसरे पक्षका बिलकुल विचार न करनेवाले और अपने विचारमें ही रमनेवाले गिर जाते हैं।

प्रत्येक पक्षमें कुछ न कुछ गुण भी होते हैं और दोष भी होते हैं। इनका विचार करना चाहिये और जहां जो गुण होगा, उसको वहांसे लेना चाहिये। इसलिये अगले मंत्रमें कहा है।

विशेष फल

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

" संघ शक्तिसे कुछ विशेष लाभ होते हैं और व्यक्ति-की स्वतंत्रतासे भी कुछ विलक्षण लाभ होते हैं। ऐसा हम उनसे सुनते आये हैं कि, जो हमें इसका उपदेश देते रहे। "

व्यक्तिस्वातंत्र्यका फल

अर्थात् व्यक्तिकी स्वतंत्रतासे कुछ विलक्षण लाभ होते हैं। व्यक्तिको स्वतंत्रता देनेसे वैयक्तिक गुणोंका विकास होता है,

गुणोंकी वृद्धि होनेसे विशेषीकरण होता है, अर्थात् व्यक्तिका व्यक्तित्व रहता और बढता है। यह अत्यावश्यक भी है। व्यक्ति की उन्नति व्यक्ति स्वतंत्र रही, अपने भविष्यके विषयमें सोचती रही, अपनी उन्नतिके लिये विशेष प्रयत्न करती रही, तो ही हो सकती है। यदि व्यक्ति गुलाम जैसी पराधीन ही रही, यदि वह कैदी जैसी अस्वतंत्र रही, तो उसकी उन्नति नहीं होगी। अर्थात् व्यक्तिके गुणोंका विकास करनेके लिये व्यक्तिको स्वतंत्रता चाहिये। स्वतंत्रतासे गुणों का विकास होना संभवनीय है

संघटनाका प्रचण्ड सामर्थ्य

इसी तरह संघटना करने से सांघिक बल भी प्राप्त होता है। मानवी उन्नतिके लिये व्यक्ति के गुणोंका विकास होना अत्यंत आवश्यक है। उसी तरह सांघिक बल भी बढना चाहिये। ऐसा होनेसे दोनोंसे लाभ हो सकते हैं और दोनों ओरकी आपत्तियाँ टाली जा सकती हैं। दोनों आपत्तियां टल जांय और दोनों लाभ प्राप्त हों ऐसा करनेकी सूचना वेद यहां दे रहा है। इन दोनों का समन्वय वेदने कैसा किया यह देखिये—

दोनोंका समन्वय

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥१२॥

"संघभाव और व्यक्तिभाव इन दोनोंका समन्वय करनेसे लाभ होते हैं यह जो जानता है, वह व्यक्तिभावसे व्यक्तिगत दुःख दूर करके संघभावसे अमरत्व प्राप्त करता है।" यह दोनोंके समन्वय का सुवर्णनियम वेदने मानवी उन्नतिके लिये दिया है।

अमरत्वकी प्राप्ति

मनुष्य अमरत्व चाहता है, वह अमरत्व 'संभूति' से ही मिल सकता है। 'संभूत्या अमृतत्वं अश्नुते' संघसे अमरत्व प्राप्त होता है। व्यक्ति कभी अमर होनेवाली नहीं है। व्यक्ति अनेक यत्न करनेपर भी किसी न किसी समय अवश्य मर जायगी। वसिष्ठ, वामदेव, अत्रि, दुर्वासा, पतंजली आदि सब ऋषिमुनि मर गये हैं। योगाभ्यास करनेवाले भी मर चुके हैं। इसलिये व्यक्ति को मृत्यु लगा ही है। व्यक्तिसे मृत्यु दूर हो सकता है अर्थात् वैयक्तिक प्रयत्नसे दीर्घायु प्राप्त की जा सकती है। परंतु यह शरीर स्थायी नहीं रह सकता। कभी न कभी इसने मरना ही है। 'जपी तपी सब मर गये। मर गये जंदर जोगी।' यह वास्तव स्थिति है। इस व्यक्तिभाव का ही नाम इस मंत्रमें 'विनाश' रखा है। व्यक्ति विनाश को प्राप्त होगी। व्यक्ति स्वयं विनाशवान् है। परंतु (संभूत्या अमृतं अश्नुते) संघजीवन-सामुदायिक जीवन जीनेसे अमरत्व प्राप्त होता है। व्यक्ति मरनेवाली और समुदाय अमर है। हिंदु-व्यक्ति मरती है पर हिंदुसमाज अमर है।

व्यक्तिवादी व्यक्तिको अमरत्व देनेके प्रयत्न कर रहते हैं। इसके लिये इन्होंने बडे अनुष्ठान किये हैं पर वे सब व्यर्थ हुए हैं। जो कभी सिद्ध होना नहीं है उसके लिये उनका प्रयत्न है, वह कदापि सिद्ध नहीं हो सकेगा।

वैयक्तिक प्रयत्नके लाभ

पर व्यक्तिभावसे व्यक्तिका व्यक्तित्व सुरक्षित रह सकता है। जैसा स्नान करनेसे शरीर स्वच्छ होता है, स्वच्छता करनेसे शरीर नीरोग हो जाता है। भोजन करनेसे शरीर पुष्ट होता है, व्यायाम करनेसे शरीरका बल बढ जाता है। संध्या उपासना करनेसे अन्तःकरण की शान्ति सुस्थिर रह सकती है, जिससे दीर्घायु हो जाती है। इसका नाम है, मृत्युको तैरकर पार होना (मृत्युं तीर्त्वा) मृत्युको दूर करना। यह सब व्यक्तिभावकी व्यक्तिशः सेवा शुश्रूषा करनेसे ही होता है। यह लाभ कोई कम नहीं है। व्यक्ति निरोग, दीर्घजीवी, सुखी, हृष्टपुष्ट, आनंद प्रसन्न, कार्यक्षम, यशस्वी, पराक्रमी होनी चाहिये। व्यक्तिभाव की उपासनासे ही यह होना संभव है। जहां व्यक्तिभाव की उपासना ठीक तरह नहीं होती, वहां व्यक्ति निर्बल होजाती है। और निकम्मी सिद्ध हो जाती है। व्यक्तिके गुण विकसित होने चाहिये और ऐसी विकसित गुणोंवाली व्यक्ति समाज की सेवा करनेके लिये मिलनी चाहिये। निकम्मे मनुष्य हो गये तो वे समाजकी सेवा कैसी करेंगे? और समाज सेवा ठीक तरह न हुई तो समाज सुखी भी किस तरह होगा? अमर भी कैसा होगा? क्योंकि निर्बल व्यक्तियोंका समाज निर्बल होगा और कोई दूसरा बलवान समाज उसको खा जायगा। इसलिये व्यक्ति आशिष्ट दृढिष्ठ बलिष्ठ होनी चाहिये और सद्भावना से युक्त होनी चाहिये।

ब्रह्मचर्याश्रम

राष्ट्रमें प्रथम आयुमें प्रत्येक व्यक्तिको अपनी उन्नति करनेकी सुशिक्षा मिलनी चाहिये । ब्रह्मचर्याश्रम व्यक्तिका व्यक्तित्व विकसित करनेके लिये ही है । १२ या २४ वर्ष तक व्यक्तिके अन्दर के गुणोंका विकास किया जा सकता है । ऐसा प्रत्येक व्यक्तिको करना चाहिये ।

योगसाधन

व्यक्तिमें शरीर, इन्द्रिय और अवयव हैं । योगके आसनों के व्यायामसे शरीरके प्रत्येक अवयव का उत्तम विकास होता है और रोग दूर करनेकी शक्ति शरीरमें बढ जाती है। यह कार्य सबसे प्रथम करने का है । इसके पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास होता है । प्राणके आधारसे ही सब इंद्रियां और अवयव कार्य करते हैं । दीर्घजीवन शरीर के लिये प्राप्त होना इस प्राणशक्तिके बल से ही होनेवाली बात है । इसलिये जैसे आसन वैसे ही प्राणायाम व्यक्तिशः करनेके व्यायाम हैं। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि यह योगसाधन व्यक्तिके विकास के लिये है । वैदिक धर्मके अन्दर व्यक्तिके विकासका यह कार्यक्रम परिपूर्ण है । वैदिक धर्मने व्यक्तिविकास की ओर दुर्लक्ष्य नहीं किया है। आसन व्यायामसे शरीर, प्राणायामसे प्राणशक्ति,प्रत्याहारसे संयम, ध्यानधारणासे मनकी शक्ति और समाधि से निज आत्मशक्ति विकसित हो जाती है । यह व्यक्तिकी ही उपासना है । व्यक्तिकी परम उन्नति इस अनुष्ठानसे प्राप्त होती है । यह प्रत्येक व्यक्ति को करना अत्यंत आवश्यक और अनिवार्य भी है। वैदिक धर्म की यह व्यवस्था ऐसी व्यक्तिकी उन्नति पूर्ण रीतिसे करनेवाली है ।

योगानुष्ठानके प्रारंभमें ' यम और नियम ' कहे हैं । इनमें ' यम ' सार्वजनिक जीवन के लिये हैं और नियम वैयक्तिक जीवन के लिये हैं । इनमें प्रथम व्यक्तिकी उन्नतिके लिये नियम कैसे उपयोगी हैं यह देखिये–

वैयक्तिक जीवन

शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः । (योगदर्शन)

शुद्धता पवित्रता, मनका सन्तोष, शीत उष्ण सहन करने की शक्ति, उत्तम ग्रंथोंका अध्ययन, और ईश्वरकी भक्ति ये नियम हैं । ये व्यक्तिकी उन्नतिके साधक हैं । शरीर की पवित्रता होनेसे शरीर निरोग बनेगा, मनका संतोष रहनेसे मन उत्साह युक्त हो जाता है, शीत उष्ण सहन करनेकी शक्ति बढनेसे रोग दूर होते हैं, शरीरकी थकावट नहीं होती। उत्तम ग्रंथोंका पठन पाठन होनेसे उत्तम ज्ञान मिलता है जिससे जीवन सुधरता है, ईश्वरभक्ति से अपनी आत्मशक्ति बढती है । इस तरह ये सब नियम वैयक्तिक गुणविकास के लिये हैं ।

योगसाधनमें वैयक्तिक सुधार का कार्यक्रम है । यह होना ही चाहिये । इस अनुष्ठानसे व्यक्ति उच्च होती है । उन्नत होती है । ऐसी उन्नत और समर्थ बनी व्यक्ति सार्वजनिक कार्य करनेके लिये तैयार की जाती है । इस तरह उन्नत मनुष्यसे ही सार्वजनिक हितके कार्य अच्छी तरह बन सकते हैं ।

सार्वजनिक जीवन

अब सार्वजनिक जीवनके नियमोंका स्वरूप देखिये–

अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यमाः । (योगदर्शन)

ये सब यम सार्वजनिक जीवन का आदर्श जनताके सामने रखते हैं । मनुष्यका सार्वजनिक जीवन इस आदर्श के अनुकूल होना चाहिये–

१ अहिंसा–मनुष्यके व्यवहारमें काया वाचा मन से अहिंसा प्रकट होनी चाहिये । अहिंसा निषेध करती है । घात पात नहीं करना चाहिये, परंतु प्रत्यक्ष दूसरोंका हित करना चाहिये । दूसरोंकी सहायता करनी चाहिये । दूसरोंका द्वेष नहीं करना चाहिये ।

२ सत्य– मनुष्यके व्यवहारमें सत्य रहना चाहिये । काया वाचा मनसे मनुष्य सत्यके अनुकूल रहकर व्यवहार करे । दूसरोंके साथ व्यवहार करते समय असत्यके व्यवहारसे लाभ भी होता हो, तोभी उस समय सत्य का ही पालन करना चाहिये ।

३ अस्तेय– चोरी नहीं करनी चाहिये, चोरी करनेसे

लाभ होता है ऐसा दीखता है, परंतु चोरका कभी कल्याण नहीं होता है। चोरी, कालाबाजार, मिथ्या व्यवहार का सर्वथा त्याग करके मनुष्य उत्तम सरलता का व्यवहार करे।

देखिये 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय' ये मनुष्यके सार्वजनिक व्यवहारके नियम कितने अच्छे हैं। इनसे मनुष्यका सामर्थ्य बढता है। मनुष्यका आत्मा उन्नत होता है। ऐसा मनुष्य ही मानवी समाजका आदर्श हो सकता है। यह संभूतिके जीवनका आदर्श है।

४ ब्रह्मचर्य– 'ब्रह्म' अर्थात् बडी शक्ति प्राप्त करने के लिये जो 'चर्य' अर्थात् चाल चलन और व्यवहार करना आवश्यक है, वैसे सद्व्यवहारका नाम ब्रह्मचर्य है। समर्थ बनने के लिये आवश्यक श्रेष्ठ आचरण करनेका नाम ब्रह्मचर्य है। योग परिभाषामें 'ऊर्ध्वरेता' बननेके अनुष्ठान को ब्रह्मचर्य कहते हैं। विवाह पूर्व स्त्रीभोगका पूर्ण संयम और विवाह होनेपर वैवाहिक नियमानुसार स्त्री संबंध करनेका नाम ब्रह्मचर्य है। यह सबको विदित है।

५ अपरिग्रह– अपने पास भोग्य पदार्थोंका अत्यधिक संग्रह करनेका नाम परिग्रह है। वैसा संग्रह अपने पास न रखनेका नाम 'अपरिग्रह' है। किसी एक व्यक्तिके पास अनंत भोग साधन इकट्ठे हो गये, तो अन्य व्यक्तियां उन भोगोंसे वंचित रहती हैं। इस कारण ये वंचित व्यक्तियां उस परिग्रह करनेवालेका द्वेष करने लगती हैं। इस कारण विश्वमें विग्रह उत्पन्न होते हैं। छोटे परिमाणमें इनका नाम झगडा है और बडे परिमाण में इनको युद्ध कहते हैं। परिग्रह के कारण ही ये युद्ध होते हैं। इसीलिये भोगोंका अत्यधिक संग्रह अपने पास करना उचित नहीं। कमसे कम अपने जीवन निर्वाह के लिये जितना अत्यंत आवश्यक है, उतना मनुष्य अपने पास रखे, इससे अधिक न रखे। इस मर्यादा का उल्लंघन कोई न करे। सार्वजनिक झगडे और युद्ध कम होनेके लिये इस तरह मनुष्य अपने भोगों-पर संयम रखे।

ये पांच यम हैं। ये सार्वजनिक जीवन सुखदायी होनेके लिये मनुष्योंके द्वारा पालन करना अत्यंत आवश्यक है। वैदिक धर्मानुसार सामाजिक जीवन कैसा होना चाहिये, इस प्रश्नके उत्तरमें यह कह सकते हैं कि इन पांच यमोंको पालन करनेसे जैसा जीवन हो सकता है वैसा जीवन होना चाहिये।

योगसाधनसे जैसा वैयक्तिक जीवन उच्च होता है वैसा ही सामुदायिक जीवन भी उच्चतर हो सकता है।

वैयक्तिक जीवन और सामुदायिक जीवन का यह उत्तम समन्वय है। इस समन्वयसे केवल वैयक्तिक स्वातंत्र्यसे जो दोष उत्पन्न होते हैं वे सब दूर हो जाते हैं और वैयक्तिक उन्नतिसे जो लाभ होनेकी संभावना है वे लाभ प्राप्त होते हैं। इसी तरह केवल सामाजिक संघटना करनेवालोंके प्रयत्नोंसे व्यक्ति दब जानेकी संभावना होती है वह भी इससे दूर होती है और मनुष्यके सामुदायिक जीवन का सुधार होनेसे अनंत लाभ होते हैं। इस कारण इस समन्वय से इन दोनों जीवनोंके दोष दूर हो जाते हैं और गुण ही मिलते हैं यह यहां पाठक जानें। इसका तात्पर्य यह है कि केवल व्यक्ति स्वतंत्रतावाद जैसा हानिकारक है वैसा ही केवल समाजवाद भी हानिकारक है। पर दोनोंका समन्वय लाभकारी है।

हमें तो व्यक्तिकी भी उन्नति होनी चाहिये और समाज भी सुसंघटित होना चाहिये। ये दोनों जिससे साध्य होंगे वह जीवन की व्यवस्था हमें चाहिये। व्यक्ति की स्वतंत्रता बढाकर समाज संघटनाको हानि पहुंचाना जैसा योग्य नहीं है, वैसा ही समाज संघटना से प्रचण्ड बल प्राप्त करने के लिये व्यक्तिको निर्जीव यंत्र बनाना भी इष्ट नहीं है। केवल किसी एक ही पक्षका स्वीकार करनेसे जो हानि होती है वह समन्वयसे टालनी चाहिये।

यूरोपके वाद

यूरोपमें व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि अनेक वाद उत्पन्न हुए हैं। उनको भारतीयों का वैदिक धर्मका सिद्धान्त विदित नहीं है। विराट् पुरुषके देहमें सर्वत्र व्यापक एक ही जीवन है। यह विराट् पुरुषका देह यह 'सब विश्व' ही है। इसमें सूर्य चन्द्र पृथ्वी पशु पक्षी मानव आदि सब सामिलित हैं। पृथ्वीके ऊपर भी विराट् पुरुष का ही एक अखण्ड और अद्वितीय एकरस जीवन व्याप रहा है। इस लिये यहां व्यक्ति दूसरी व्यक्तिसे सर्वथा पृथक् नहीं है। सब विराट् पुरुषके एक जीवन में ही सामिलित हैं। सब इस

विराट् पुरुषके देहके अंग और अवयव हैं। यहां अवयव और अवयवी का संबंध है। यही संबंध जानना योग्य है।

अंग और अंगी

शरीरमें देखिये इस एक शरीरमें इंद्रियों और अवयवों में सबमें व्याप्त रहनेवाला एक ही जीवन है। यह एक जीवन है ऐसा मानकर ही यहां के इंद्रिय व्यवहार होने चाहिये। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रियमें अनेक अणुजीव रहते हैं और वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं, तथापि वह इन्द्रिय अखण्ड शरीरका एक भाग है। इसलिये शरीरका एक अंश है ऐसा मानकर ही व्यवहार करना चाहिये।

इसी तरह राष्ट्रमें व्यक्ति का व्यवहार वह व्यक्ति राष्ट्र का अंग है ऐसा मानकर ही होना योग्य है। यह अंग-अंगी संबंध किस तरह वेदने बताया है यह देखिये–

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
अथर्व. १०।७।३३

'जिसका सूर्य चक्षु है, पुनः पुनः नया नया बननेवाली चन्द्रमा भी जिसका आंख है, अग्नि जिसका मुख है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये नमस्कार है।' सूर्यचन्द्र जिसके आंख हैं और अग्नि जिसका मुख है वह ज्येष्ठ ब्रह्म है। जिस तरह मनुष्यके शरीरमें आंखों कानों में तथा हाथों पावोंमें शरीरका एक ही जीवन संचरित होता है, उसी तरह इस विश्वमें परमात्माका, ज्येष्ठ ब्रह्मका जीवनरस संचरित हो रहा है। इसी तरह और भी वर्णन है–

यास्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातास्तिष्ठन्त्यार्पिताः॥ १२॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः॥ १३॥
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः॥ १५॥
यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः॥ १६॥
यस्य शिरो वैश्वानरः चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि०॥ १८॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे॥ २७॥
यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३१॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३४
अथर्व १०।७

'जिसमें भूमि अन्तरिक्ष, द्यु, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु समर्पित हुए हैं। जिसके अवयवों में तैंतीस देवता हैं। समुद्रको मिलनेवाली नदियां जिसके शरीरकी नाडियां हैं। चारों दिशाएं जिसकी नाडियां हैं। जिसका सिर वैश्वानर अग्नि है, अंगिरस जिसके आंख बने हैं' सब प्राणी अथवा गतिमान (यातवः) पदार्थ जिसके शरीरके अवयव हैं। जिसके शरीरके अवयवों में तैंतिस देवताएं विभक्त होकर रही हैं। भूमि जिसके पांव, अन्तरिक्ष जिसका उदर है, द्यु जिसका सिर है उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा नमस्कार है। वायु जिसके प्राण और अपान है, अंगिरस जिसके आंख हैं, दिशाएं जिसके ज्ञान देनेवाले श्रोत्र हैं, उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिये प्रणाम हो।'

ज्येष्ठ ब्रह्मका विश्वरूप

इस वर्णन में ज्येष्ठ ब्रह्मका यह विश्वरूप देह है यह स्पष्ट हुआ है। ज्येष्ठ ब्रह्मका जीवन इस विश्वमें सर्वत्र संचरित हो रहा है यह यहां स्पष्ट होता है। संपूर्ण विश्व ज्येष्ठ ब्रह्मके जीवनसे अनुप्राणित हुआ है। इसी तरह और भी वर्णन है वह भी यहां देखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥ १॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत
ऋ १०।९०, वा-य-३१

हजारों सिरोंवाला, हजारों आंखोंवाला और हजारों पांवोंवाला एक पुरुष -विराट् पुरुष - है वह भूमि के चारों ओर दसा है और वह बाहर भी है। ब्राह्मण उसके सिर हैं, क्षत्रिय उसके बाहु हैं, वैश्य उसकी जांघें हैं और शूद्र उसके पांव हैं। इस वर्णन से तो स्पष्ट हो गया कि जिसके शरीरमें सिर, आंख, कान, हाथ, पेट, पांव ये हजारों हैं ऐसा एक विराट् पुरुष है, और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये उसके सिर बाहु पेट और पांव हैं। अर्थात् हजारों ब्राह्मणों-के सिर उसके सिर हैं, हजारों क्षत्रियों के बाहू उसके

बाहू हैं, हजारों वैश्य ये उसके पेट तथा जंघाएं हैं और हजारों शूद्र ये उसके पांव हैं । यदि ब्राह्मण -क्षत्रिय - वैश्य -शूद्र निषाद ये उसके शरीरके अवयव हैं तब तो निश्चय ही है कि उसका जीवन रस इन सबमें संचरित हो रहा है और ये सब मिलकर उसका शरीर -उसका एक ही शरीर हुआ है ।

सब प्राणी मिलकर विराट् पुरुष एक है यह वैदिक कल्पना सब से प्रथम समझमें आनी चाहिये, तब वैदिक धर्मका व्यवहार शास्त्र समझमें आसकता है ।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद ये पंचजन मिलकर एक विराट् पुरुषका विशाल देह है और यह सब मिलकर एक ही देह है । यह एकत्व देखना चाहिये। और यही समझना चाहिये ।

व्यक्तिसत्ता मारी नहीं है

यहांका एक जीवन है ऐसा कहनेसे प्रत्येक व्यक्तिका व्यक्तित्व मारा नहीं जाता यह विशेषता यहां है । जिस तरह मनुष्यके एक शरीरमें करोडों अणुजीव रहते हैं और उनमेंसे प्रत्येक अणुजीव स्वतंत्र रीतिसे जन्मता रहता और मरता है । ऐसा प्रत्येक जीव स्वतंत्र रहने पर भी, इन करोडों अणु-जीवोंमें एक श्रेष्ठ आत्माकी शक्ति एक रस व्याप रही है और उन करोडों अणुजीवोंको अनुप्राणित कर रही है । ठीक उस तरह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद हजारों लाखों और करोडों की संख्या में हैं, इनमें से प्रत्येक स्वतंत्र रीतिसे जन्मता, रहता और मरता है, अतः प्रत्येक स्वतंत्र है, तथापि इनमें एक विराट् आत्माकी शक्ति एक रस व्याप रही है और उन करोडों मनुष्योंको अनुप्राणित कर रही है ।

इस तरह प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, परंतु समष्टिकी जीवन दृष्टीसे वह एक है । विभक्त होता हुआ अविभक्त है । स्वतंत्र होता हुआ एक जीवन में बंधा है । प्रत्येक स्वतंत्र होनेपर भी उसमें सामूहिक एकता है यही यहां समझनेवाली तथा मननसे जानने योग्य और मुख्य बात है ।

मैं स्वतन्त्र हूं

अपने शरीरमें देखिये, प्रत्येक मनुष्य कहता है कि मैं एक व्यक्ति हूं, मुझमें नानात्व नहीं है । यह प्रत्येक का अनु-भव है । तथापि एक व्यक्तिके एक शरीरमें करोडों अणुजीव हैं और उन जीवोंमें से प्रत्येक कहता होगा कि मैं स्वतंत्र हूं । प्रत्येक स्वतंत्र तो है, परंतु उसमें एक जीवात्माका जीवन अनुप्राणित हो रहा है । इसी तरह पृथ्वीपरके करोडों मानवों में विराट् पुरुष का अखण्ड एक रस जीवन अनुप्राणित हो रहा है । यह विराट् पुरुषकी दृष्टिसे एकता है, विराट् पुरुष की दृष्टिसे यहां नानात्व नहीं है । परंतु जीव शरीर की दृष्टिसे यहां नानात्व है ।

मनुष्यके तीन देह

यह नानात्वमें एकत्व और एकत्व में नानात्व कैसा होता है वह देखिये । मनुष्यके स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये देह हैं । कई तत्त्वज्ञानी महाकारण देह भी और एक है ऐसा मानते हैं । स्थूल और सूक्ष्म देह प्रत्येक के विभिन्न हैं और कारण देहकी दृष्टिसे सबकी एकता है क्योंकि कारण देह सबका एक है । अतः स्थूल देह की दृष्टिसे विभिन्नता और कारण देहकी दृष्टीसे अभिन्नता यहां है । कारण देह सबका एक है यह सब शास्त्रों का सिद्धान्त है और प्रत्येक का स्थूल देह भिन्न है यह प्रत्येक का अनुभव है । इस तरह एकत्व और भिन्नत्व की व्यवस्था है । यही ज्ञान व्यक्तिवाद और समष्टिवाद की व्यवस्था अथवा समन्वय करनेमें सहायता करनेवाला है ।

स्थूल दृष्टिसे भिन्न और कारण दृष्टिसे एक

इस तात्त्विक विवरणसे इस बातकी सिद्धता हुई कि मनुष्य स्थूल शरीरकी दृष्टिसे स्वतंत्र है, तथापि कारण शरीरकी दृष्टिसे सब मानवोंकी एकता है ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र भी है और उनका समूह सामूहिक दृष्टिसे एक भी है ।

प्रत्येक मनुष्य स्थूल शरीरकी दृष्टिसे व्यक्तिशः स्वतंत्र है, परंतु कारण शरीरकी दृष्टिसे सब मानव एक हैं । इससे अपने मानवी व्यवहारमें क्या परिणाम हो सकता है, यह देखना चाहिये ।

स्थूल देहका संबंध स्नान खान पान से रहता है । इस विषयमें प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र है ऐसा मानकर ही व्यवहार होना चाहिये । प्रत्येक के लिये स्नान, भोजन, रहन, सहन, व्यायाम, आराम आदि स्थूल शरीर की आवश्यकताएं

मिलनी चाहिये। मनुष्यके शरीर की आवश्यकताके अनुरूप भोजनादिकी व्यवस्था उसको प्राप्त होनी चाहिये । अर्थात् बालक तरुण वृद्ध, तथा प्रयासका कार्य करनेवाले तथा बैठे रहनेवाले के लिये एक ही भोजन उपयोगी नहीं होता । इस लिये यह व्यक्तिगत आवश्यकतानुरूप ही भोजनादि होना योग्य है

स्थूल और सूक्ष्म देह प्रत्येकका पृथक् पृथक् है । इसकी आवश्यकताएं सामूहिक नहीं हो सकती । प्रत्येक को विद्याध्ययन स्वतंत्रतासे करना चाहिये, ज्ञानविज्ञान प्रत्येक को स्वतंत्रतासे प्राप्त करना चाहिये। शरीरकी स्वच्छता, मनकी पवित्रता, विचारोंकी शुद्धता के लिये प्रत्येक को व्यक्तिशः ही यत्न करना चाहिये । इस तरह वैयक्तिक उन्नतिके लिये यत्न करना प्रत्येक व्यक्तिके लिये आवश्यक है। व्यक्तिको दबाकर उसकी उन्नतिके प्रयत्न में हस्तक्षेप करना किसीको योग्य नहीं है। वैयक्तिक जीवन की मर्यादा यह है । प्रत्येक व्यक्तिको इस मर्यादामें रहकर अपने जीवन की उच्चता प्राप्त करनी चाहिये । यह स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरकी की सुस्थितिकी बात है। प्रत्येक को इस विषयमें स्वतंत्रता से अपनी उन्नतिके लिये यत्न करना चाहिये । इस तरह व्यक्तिशः प्रयत्न हुए, व्यक्तिकी उन्नति हुई, तो इसके पश्चात् व्यक्तिकी शक्तियां किस प्रयोजनके लिये लगनी चाहिये । वह प्रयोजन सार्वजनिक सेवा है ।

जनता की सेवा

व्यक्ति अंग है और समाज अंगी है। अंग की उन्नति होने पर उस व्यक्तिकी शक्तिसे समाजकी सेवा होनी चाहिये। मान लीजिये कि व्यक्तिने अपने स्वतंत्र प्रयत्नों के द्वारा ज्ञान, बल, धन और कर्म करनेकी कुशलता प्राप्त की। इतना होनेके पश्चात् उस व्यक्तिने समाज के लिये कुछ भी नहीं किया। तो उस समाज की आनन्द प्रसन्नता नहीं होगी । वह समाज उस कारण दुःखी ही रहेगा। अनेक सुयोग्य उन्नत हुए मानवोंकी सेवा से ही जनता सुख को प्राप्त कर सकती है । संपूर्ण समाजको आनन्द प्रसन्न अवस्थामें रखना ही मानवी उन्नति का अन्तिम ध्येय है । यह तब साध्य हो सकता है कि जिस समय परम उन्नतिको प्राप्त हुई व्यक्तियां समाज की सेवा के लिये अपने आपको अर्पण करें। समाज की उन्नति की कुछ बातें निश्चित हुई हैं-

आदर्श समाज

१ समाज में पूर्ण निर्भयता स्थिर होनी चाहिये, किसी तरह कहींसे भी भय नहीं होना चाहिये, (न तत्र भयं)

२ समाज में बालमृत्यु, अपमृत्यु, रोग आदिका भय नहीं रहना चाहिये, (न मृत्युः)

३ समाज में अतिदीर्घ आयुवाले पुरुष अच्छी शारीरिक अवस्था में रहने चाहिये, (न जरा)

४ खान पान के अच्छे पौष्टिक और आरोग्यवर्धक पदार्थ प्रत्येक को जितने चाहिये उतने प्राप्त होने चाहिये। खान-पान के कष्ट नहीं होने चाहिये, (न अशनाया-पिपासे)

५ समाज आनन्द प्रसन्न सुदृढ बलवान नीरोग और पुरुषार्थी होना चाहिये (शोकातिगो मोदते)

समाज में ये बातें स्थिर होनी चाहिये । कोई मनुष्य इनसे वंचित नहीं रहना चाहिये। यह तब हो सकता है कि जब समाजकी सेवा होती रहे और उसको करनेवाले श्रेष्ठ योग्यतावाले पुरुष पर्याप्त संख्यामें मिलें। राष्ट्र में केवल श्रेष्ठ पुरुष रहने से ही कार्य नहीं चलेगा, परंतु उन श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा राष्ट्रकी अखण्ड सेवा होनी चाहिये तब वह राष्ट्र सुखी हो सकेगा।

स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर प्रत्येक मनुष्यके लिये पृथक् पृथक् है इस हेतु से इन दोनों शरीरोंकी शक्तियोंका विकास करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको स्वातंत्र्य मिलना चाहिये। इस स्वातंत्र्य से वह अपने दोनों शरीरोंको पूर्ण विकसित करे। यह उसका विकास होने पर वह विकसित मनुष्य अपने विकसित सामर्थ्यका उपयोग समाज की शक्ति बढानेके लिये तथा पूर्वोक्त पांच प्रकारकी उन्नतियाँ करने के लिये करे, यह इसलिये कि सबका कारण शरीर एक है, सब मानव समाज का एक ही कारण शरीर है। इसलिये जब तक मानवसमाज पूर्ण उन्नत नहीं रहता, परंतु छोटे छोटे अपने गुट बनाकर परस्पर स्पर्धा और युद्ध करता रहेगा, तब तक इस समाज के दुःख दूर नहीं होंगे। इस समय मानवोंके ऐसे गुट बने हैं और वे झगडे बढा रहे हैं। यह नहीं होना चाहिये।

चार वर्ण और चार आश्रम

मानव समाजमें छोटे छोटे गुट हों, पर वे एक ध्येय की पूर्ति के लिये कार्य करते जांय । जैसे आर्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं । ये चार सहन सहनसे यद्यपि पृथक् थे तथापि इनका ध्येय एक ही था । एक कार्य के लिये यत्न करते थे । जिस तरह एक शरीरमें ज्ञान-ग्रहण करनेवाला सिर, संरक्षण करनेवाले बाहु, रक्त तैयार करके शरीरका पोषण करने के लिये पेट और कर्म करने के लिये पांव हैं । वैसे ही ज्ञानका प्रचार करने के लिये ज्ञानी ब्राह्मण, संरक्षण करनेवाले क्षत्रिय, धन धान्यसे पोषण करनेवाले वैश्य और कर्ममें कुशल शूद्र ये चार वर्ण राष्ट्र में हैं । व्यक्ति के शरीरके गुण विकसित होकर ये वर्ण बने हैं । इसलिये एक मनुष्य के अन्दरके ये चार गुण जिस तरह एक दूसरे को मारक नहीं होते, उसी तरह ये चारों गुणी जन राष्ट्र के लिये पोषक ही होते हैं । अतः ये गुट सहायक होते हैं ।

ऐसे ये गुट सहाय्य करनेवाले हैं । परंतु स्पर्धा करनेवाले गुट सुखका नाश करते हैं, संहार भी करते हैं । इसलिये चार वर्ण आर्योंके समाज की शक्ति बढाते रहे थे । और वैसे आज हों तो जिस समाज में वे होंगे उसकी शक्ति वे बढाते ही रहेंगे । इसी तरह आश्रम चार हैं और वे सभी सहायक ही हैं ।

सामाजिक उन्नति

कारण शरीरने सब मानवोंको बांध रखा है । इसलिये मानव समाज की एकता स्वीकार करके अपना कार्यक्रम करना चाहिये । यह मानव समाज अंगी है और एक एक व्यक्ति उसके अंग हैं । व्यक्तिकी इतिकर्तव्यता समाजकी उन्नतिके लिये अपना समर्पण करना है । अंग की इतिकर्तव्यता अंगीकी उन्नतिमें अपना कर्तव्य करना है । इसी तरह एक मानव व्यक्तिकी इतिकर्तव्यता मानवसमाज की पूर्वोक्त प्रकार उन्नति करनेमें अपनी शक्तियों का समर्पण करनेमें है ।

असंभूति और संभूतिका यह संबंध है, व्यक्ति समष्टिका यह मेल है । व्यक्तिवाद और समाजवाद का यह समन्वय है ।

असंभूतिसे व्यक्ति के दुःख दूर होते हैं और संभूतिसे समाज अमर होता है । यह जो पूर्वोक्त मंत्रका कथन है । उसका ऐसा अनुभव देखा जा सकता है ।

तत्त्वोंका अज्ञान

युरोप अमेरिका निवासी मनुष्योंको प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर तीन शरीर हैं, वे स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारण शरीर हैं । इनमें स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्रत्येक व्यक्तिके पृथक् पृथक् हैं और कारण शरीर सब मानवोंका एक है । इस आर्य तत्त्वज्ञानको ये यूरोपवासी जानते ही नहीं । वे समझते हैं कि यहां मनुष्य हैं और उनका मानव समाज है । व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी व्यक्तिको पूर्ण स्वतंत्र करना चाहते हैं, और ये समाजसंघटना का नाश करते हैं । समाज-वादी समाजसंघटना करके मानव समाजको विशेष बलवान बनानेका यत्न करके अपना संघबल बढाने के लिये व्यक्तिकी स्वतंत्रताको नष्ट करके मनुष्यको केवल एक जीवित यंत्र बनाते हैं ।

दुःखका कारण

इनमें अन्यान्य मत मतांतर संमिलित हैं । ये मतवाले एक दूसरेका द्वेष करके दूसरेका पूर्ण नाश करके स्वयं स्थायी रहनेके इच्छुक हैं । इन झगडोंके कारण मानव समाज युद्धों-की अग्नि से जल रहा है और दुःखी हो रहा है ।

समन्वयसे शाश्वत सुख

ऐसी अवस्थामें यह वैदिक धर्मका सिद्धान्त यदि उनके समझमें आजायगा, कि स्थूल सूक्ष्म शरीरके क्षेत्रतक मनुष्य व्यक्ति स्वातंत्र्यका भोग कर सकता है, परंतु कारण शरीरके क्षेत्र में मानव समाज स्वभावतः एक अभिन्न अनन्य तथा अखंड है इसलिये उस समूह का हित करनेके लिये मानव व्यक्तिको अपनी शक्तियों का समर्पण करना चाहिये । इस तरह व्यक्तिवाद और समाजवाद का समन्वय वैदिक धर्मने किया है और वह सत्य तत्त्वज्ञान की बुनियाद पर किया है अतः यह सुख देनेवाला है ।

युरोप अमेरिकाके लोग यह समझेंगे तो उनके झगडे दूर होंगे और उनकी शक्ति मानवी उन्नति करनेमें लग जायगी और निःसंदेह विश्वका कल्याण होगा ।

यह सत्य सनातन तत्त्वज्ञान भारतीय आर्योंके पास है ।

परंतु ये भी यूरोपके ही मार्गोंसे जा रहे हैं । अतः इनको भी यह आर्य तत्त्वज्ञान समझाना चाहिये ।

संभूति और असंभूति इन दोनोंका समन्वय हितकारी है । इसलिये व्यक्तिभावसे व्यक्तिके दुःख दूर करो और संघभावसे अमरत्वको प्राप्त करो । इस तरह का समन्वय ही हमें अपने वैयक्तिक और सामुदायिक आचरण में लाना चाहिये ।

विवादोंसे संतप्त हुए जगत को सच्ची शान्तिका यह वेदका सन्देश है । जो इसको अपनायेंगे वे आनन्दमय प्रसन्नतायुक्त शान्ति प्राप्त करेंगे ।

प्र श्न

१ व्यक्तिवादका स्वरूप क्या है ?

२ समाजवाद का वर्णन करो ?

३ साम्यवाद किसे कहते हैं ? और राष्ट्रीय समाजवाद क्या है ?

४ ' मम-सत्यं ' क्या है ?

५ ' मम-सत्यं ' में लोग क्या करते हैं ?

६ प्रभु किसकी सहायता करता है ?

७ यज्ञका क्या लक्षण और फल क्या है ?

८ व्यक्ति स्वातंत्र्यका क्या परिणाम होता है ?

९ समाजवाद का सिद्धान्त क्या है ?

१० व्यक्तिवाद और समाजवादके हानि और लाभ क्या है ?

११ व्यक्ति किस तरह समाजके आधारसे रहती है ?

१२ जगत् और जगतीका संबंध क्या है ?

१३ संभूति और असंभूतिका अर्थ क्या है ? इनके पर्याय शब्द कौनसे हैं ?

१४ संभूति और असंभूतिमें रमनेवालोंका अधःपतन कैसे होता है ?

१५ अपने शरीरकी घृणा मनुष्यको क्यों होती है ?

१६ कौन अन्य मनुष्योंसे संपर्क छोडता और एकान्तमें ही रहता है ?

१७ ब्रह्मचर्य और संन्यास कौन पसंद करते हैं ?

१८ विभेदोंकी वृद्धि और सामूहिक निर्बलता कहां होती है ?

१९ केवल संघटनाके भक्तोंका परिणाम क्या होता है ?

२० मानवताकी हानि किस कारण होती है और उसको टालनेका उपाय क्या है ?

२१ संभूति असंभूतिमें समन्वय कैसा होगा ?

२२ अमरत्वकी प्राप्ति कैसी होती है ?

२३ क्या कभी व्यक्ति अमर हो सकती है ?

२४ वैयक्तिक प्रयत्नोंसे किस तरह दुःख दूर होंगे ? यह उदाहरणोंसे सिद्ध करो ।

२५ योगसाधन, वैयक्तिक है या सामुदायिक ? या दोनों ?

२६ सार्वजनिक जीवन में योगसाधन कौनसा है ?

२७ अपरिग्रह का अर्थ क्या और इससे लाभ कौनसा होता है ?

२८ अंग अंगी संबंध कैसा है ?

२९ विश्वरूप किसका रूप है ?

३० ज्येष्ठ ब्रह्मका रूप कौनसा है ?

३१ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये विराट् पुरुष के कौनसे अवयव हैं ?

३२ विश्वजीवन एक कैसा है ?

३३ क्या व्यक्तिसत्ता मारनी है अथवा सुरक्षित रखनी है ?

३४ व्यक्ति कहांतक स्वतंत्र है ?

३५ मनुष्यके देह कितने हैं ? उनमें वैयक्तिक देह कितने और सामुदायिक कितने ?

३६ भेदोंमें अभेद और अभेदोंमें भेद किस तरह है ?

३७ व्यक्तिको सार्वजनिक सेवा क्यों करना चाहिये ?

३८ आदर्श समाजमें कौनसे लक्षण होते हैं ?

३९ चार वर्णों और चार आश्रमोंके कर्म कौनसे हैं ? और उनसे कौनसे लाभ होते हैं ?